लिए उन पर बहुत दबाव बनाया जाता है, और वे इसका प्रतिरोध करने की स्थिति में नहीं होतीं।

यह बात दुखद किन्तु सत्य है कि परिष्कृत वैज्ञानिक तकनीकों का बहुत स्पष्ट रूप से स्त्रियों के विरुद्ध उपयोग किया जाता है। वैज्ञानिक दावा करेंगे कि विज्ञान अपने आप में तटस्थ है, और वह किसी का पक्षधर या किसी के विरुद्ध नहीं है। यह बात सैद्धान्तिक रूप से तो सही है, पर वैज्ञानिक भी मनुष्य ही होते हैं, जो किसी समाज का हिस्सा होते हैं और उनके मूल्यों और प्रवृत्तियों पर अनिवार्य रूप से उन्हीं मान्यताओं और प्रवृत्तियों की छाप होती है जो उनके सामाजिक अनुभवों में उनके सामने सामने आती हैं। यह उल्लेखनीय है कि चिकित्सकीय जगत से जुड़े बहुत कम पेशेवर लोग ऐसे हैं जो खुलकर इन कुरीतियों के विरुद्ध सामने आए हैं। इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना कोई गलत नहीं होगा कि उनमें से अधिकांश लोग, खासतौर पर निजी क्षेत्र में, जो कि सबसे ज्यादा प्रशंसित और प्रभावशाली क्षेत्र है, इस अपराध के भागी रहे हैं।

तमिलनाडु में 1990 के दशक में और उसके बाद भी, सी.ए.एस.एस.ए. (कैम्पेन अगेन्स्ट सेक्स सिलेक्टिव एबोर्शन : लिंग चयन पर आधारित गर्भपात के खिलाफ अभियान) द्वारा आयोजित अभियानों के साथ काम करते हुए, हमें अकसर देखने में आता था कि महिला स्त्री–रोग विशेषज्ञ, जो निश्चित ही गर्भावस्था के दौरान विभिन्न (उचित और अनुचित, दोनों कारणों से) अल्ट्रासॉनिक परीक्षण का इस्तेमाल करती थीं, ऐसे पुरुष शिशु–रोग विशेषज्ञों के खिलाफ खड़ी हो गईं जिन्होंने जिन्दगियों को बचाने के लिए और सम्बन्धित नवजातों के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए आवाज उठाई। यहाँ एक विडम्बना भरी बात यह थी कि चिकित्सा जगत के इन पेशेवर लोगों में से कई ऐसे पति–पत्नी थे जो इस पेशेवर विभाजन में अपने ही जीवनसाथी के खिलाफ थे। इस विचार से मन स्तब्ध रह जाता है कि क्या इन मुद्दों की कलह की वजह से उनकी घरेलू जिन्दगी की शान्ति भंग हो गई होगी, और अगर हाँ तो कैसे?

2. जन्म के समय सामान्य से कम वजन होना

वैश्विक रूप से, लगभग 15% नवजात सामान्य से कम वजन (एल.बी.डब्ल्यू.) के साथ पैदा होते हैं, यानी 2500 ग्राम से कम। इनमें से, आधे से ज्यादा दक्षिण एशिया में हैं, और उनमें से 75% भारत में हैं, और प्रतिवर्ष 83 लाख नवजात इन आँकड़ों में जुड़ते जाते हैं। पिछले कुछ सालों में इस आँकड़े में उल्लेख करने लायक कोई कमी नहीं आई है। (यूनीसेफ 2006) एन.एफ.एच.एस. 3 के आकलन के अनुसार 2005–06 में कुल हुए नवजातों में से तकरीबन 21% एल.बी.डब्ल्यू. थे। माता के अल्प–पोषित होने के कारण, खासतौर से गर्भावस्था की अन्तिम त्रैमासी में, जन्म के समय शिशु का वजन सामान्य से कम होता है जिसके नकारात्मक परिणाम आगे कई रूपों में सामने आते हैं – मस्तिष्क के विकास में, शरीर की वृद्धि और संरचना में, अल्पकालिक उपापचयी (मेटाबॉलिक) विकास में जिसके चलते अन्ततः संज्ञानात्मक क्षमता कम होती है और उसके कारण भविष्य का शैक्षणिक प्रदर्शन प्रभावित होने की सम्भावना होती है, रोग रोधक क्षमता और कार्यक्षमता घट जाती है। यह पुरानी कहावत – पिताओं के पापों का भुगतान बच्चों को करना पड़ता है – की क्रूर परन्तु अद्भुत मिसाल है। इस मामले में, शब्दशः बिलकुल ऐसा होता है। किसी भी कारण से गर्भवती महिला को पर्याप्त आहार और देखभाल न मिलने के कारण, विशेष रूप से आखिरी तीन महीनों में, जन्म के समय बच्चे का वजन कम होता है।

स्वाभाविक है, कि कम वजन के नवजात शिशुओं की आगे की जिन्दगी के ऐसे बहुत कम दीर्घकालिक अध्ययन हुए हैं जो यह दिखा सकें कि कैसे और किस तरह से उनका आगे का विकास प्रभावित होता है; इसके अलावा, मानवीय दृष्टि से भी देखें, तो बगैर किसी निदानात्मक उपाय के सिर्फ उनका आगे अध्ययन भर किया जाना, अनैतिक बात होगी, क्योंकि कमी का पता लग जाने के बाद उस कमी को पूरा करने का हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। हालिया शोधों से पता चला है कि ऐसे बच्चों में बाद के जीवन में मधुमेह, मोटापा, उच्च रक्तचाप और दिल की बीमारी होने की प्रवृत्ति होती है (भट और अन्य, 2013)। बार्कर और अन्य (2007), जिन्होंने हेलसिंकी में ऐसे बच्चों के एक समूह का निरीक्षण जारी रखा, ने यह पाया कि जन्म के समय छोटा आकार होने के बाद 3–11 साल की उम्र के बीच तेजी से वृद्धि होने पर ही ऐसे ही नतीजे सामने आए, और साथ ही बाद के जीवन में आने वाली तनावपूर्ण परिस्थितियों के प्रति ऐसे बच्चों की प्रतिक्रिया कमजोर रही। चौधरी और अन्य (2004) ने एल.बी.डब्ल्यू. बच्चों के एक समूह पर निगरानी रखी और पाया कि सामान्य बच्चों के एक निश्चित समूह की तुलना में उनकी बौद्धिक क्षमता, दृश्य–प्रेरक तंत्र प्रदर्शन, प्रेरक तंत्र क्षमता और स्कूल में

उनका प्रदर्शन कमजोर थे, और उनके पढ़ने तथा गणित करने में सीखने की अक्षमता पाई गई। इसलिए, ऐसा लगता है कि बचपन की, स्कूल के दौरान, और बाद के वयस्क जीवन में आने वाली कई समस्याओं को जन्म के समय उनके कम वजन तथा माँ के अल्प–पोषित होने से जोड़कर देखा जा सकता है, और इसलिए माँ का कमजोर स्वास्थ्य भी अपने आप में लैंगिक भेदभाव का प्रतिनिधि सूचक है। यहाँ भी इस तरह का भेदभाव जीवन के बिलकुल प्रारम्भ से शुरू हो जाता है, जन्म से कहीं पहले, लेकिन उसके परिणाम दूरगामी होते हैं।

3. केवल माँ का दूध

आजकल शिशुओं के लिए जन्म से लेकर छह महीने की उम्र तक सिर्फ माँ का दूध देने की सलाह दी जाती है। वास्तव में उसके बाद भी, दो साल की उम्र तक बाकी पूरक खाद्य पदार्थों के साथ माँ का दूध जारी रहने देना चाहिए। डब्ल्यू.एच.ओ. द्वारा भी इस सलाह का अनुमोदन और समर्थन किया गया है। इसके बावजूद भारत में ऐसा बहुत कम होता है कि बच्चों को सिर्फ माँ का दूध दिया जाता हो।

बच्चे को केवल माँ का दूध मिलते रहने के लिए जरूरी है माँ और बच्चा दिन भर लगातार एक–दूसरे के निकट रहें, क्योंकि छोटे बच्चों को अनियमित अन्तरालों पर भूख लगती है, इसके अलावा माँ और बच्चे के बीच मजबूत रिश्ते के लिए भी ऐसा होना जरूरी है, जो मनो–सामाजिक विकास का पहला अनिवार्य कदम है।

पर कामकाजी गरीब माताओं के लिए हमेशा ऐसा कर पाना सम्भव नहीं होता। महिलाओं की कई मजबूरियाँ होती हैं, न सिर्फ उसे वैतनिक और अवैतनिक, दोनों प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे रहना पड़ता है, बल्कि घर को सम्भालने और घर का कामकाज करने की जिम्मेदारी भी उसकी होती है। और सबसे बड़ा काम, जो लोगों को काम जैसा दिखाई नहीं देता लेकिन जिसमें सबसे ज्यादा समय देना पड़ता है – वह है देखभाल का काम, न सिर्फ बच्चों की बल्कि बुजुर्गों की, बीमारों की, अक्षम लोगों की, घर के जानवरों की। लेकिन अभी हाल में जाकर "महिलाओं द्वारा देखभाल का अवैतनिक कार्य" जैसे शब्द सुनने में आए हैं। और इस काम का समय, विस्तार और विविधता का आकलन करना भी अब शुरू हो गया है। समय के उपयोग के अध्ययन (टाइम यूज स्टडी) की पद्धति काम के इस अधिकतर अनदेखे बोझ को विस्तार से दर्ज करने की जबरदस्त गुंजाइश देता है, पर अभी तक इसका कोई खास उपयोग नहीं किया गया है। फिर भी, अभी भी यह हमें इस गुंजाइश की कुछ झलकियाँ दिखाता है, जैसे कि जहाँ भारतीय पुरुष दिन में दो घण्टे आराम करते हैं, वहीं महिलाओं को दिन में सिर्फ पाँच मिनिट आराम मिल पाता है (सी.एस.ओ.)। इतना ही नहीं, जहाँ एक औसत भारतीय पुरुष दिन में नौ घण्टे काम करता है, वहीं एक औसत भारतीय महिला दिन में चौदह घण्टे काम करती है। तो फिर महिलाओं को अपने बच्चों को सिर्फ अपने दूध पर रखने का समय कहाँ है?

उदाहरण के लिए, मातृत्व लाभ अधिनियम सिर्फ संगठित क्षेत्र पर लागू होता है, जिसमें सिर्फ 11% महिला कामगार कार्यरत हैं। सभी महिलाओं को मातृत्व अधिकार मिलने पर ही स्तनपान कराने वाली महिलाएँ पर्याप्त समय तक कामगारी से दूर रह पाएँगी, और इस प्रकार न सिर्फ

माँ के साथ रहने वाले तीन वर्ष से कम आयु के सबसे छोटे बच्चों द्वारा स्तनपान की स्थिति (प्रतिशत में)

आयु (माह)	स्तनपान न करने वाले	सिर्फ स्तनपान करने वाले	सादापानी पीने वाले	गैर–दूध पेय / रस पीने वाले	वैकल्पिक दूध पीने वाले	पूरक खाद्य लेने वाले
<2	2.7	69	16.2	2.6	7.8	1.7
2 – 3	1.5	50.9	23.1	4.9	14.6	5.0
4-5	1.5	27.6	25.6	6.4	20.2	18.6
6-8	4.0	9.7	18.8	3.2	11.6	52.7

स्तनपान की स्थिति का आशय 24 घण्टे (कल का दिन तथा रात्रि) की अवधि के दौरान स्तनपान से है। स्तनपान करने वालों और सिर्फ पानी पीने वालों की श्रेणियों में रखे गए बच्चे कोई अन्य पेय या पूरक आहार ग्रहण नहीं करते थे। स्तनपान न करने वालों, सिर्फ स्तनपान करने वालों, स्तनपान करने और सादा पानी पीने वालों, गैर–दूध पेय / रस पीने वालों तथा पूरक खाद्य (ठोस तथा अर्ध–ठोस आहार) लेने वालों की श्रेणियाँ पदानुक्रम वाली तथा अलग–अलग हैं, और इन सबका योग 100 प्रतिशत हो जाता है। (एन.एफ.एच.एस. III, 2006)

स्तनपान सुगम हो सकेगा, बल्कि माँ और बच्चे का रिश्ता भी और गहरा हो सकेगा। यह सराहनीय बात है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम (2013) वाकई में पहली बार सभी महिलाओं को नौ महीनों की अवधि (गर्भावस्था के आखिरी तीन महीने और बच्चे के जन्म के बाद पहले छह महीने) के दौरान मातृत्व अधिकार प्रदान करता है, पर इसके अन्तर्गत दी जाने वाली मामूली तयशुदा रकम – प्रस्तावित राशि "कम से कम 1000 रुपये" (जिसका अर्थ 'बस इतना ही और इससे ज्यादा नहीं' के रूप में लगाए जाने की सम्भावना है) – आज की महँगाई के दौर में किसी भी महिला के लिए अधिक दिनों तक कामकाज से दूर रह सकने के लिए नाकाफी है। एक और क्रूर विडम्बना है – आखिरकार उसे माँ के रूप में मान्यता देकर मातृत्व के अधिकार तो दिए – लेकिन यह "बहुत थोड़ा और बहुत देर से" दिया गया है, और इसलिए यह उसके लिए कोई खास अर्थ नहीं रखता। केवल स्तनपान, उन तमाम मुद्दों में से एक है जिन्हें तब तक नहीं सुलझाया जा सकता, जब तक "महिलाओं द्वारा देखभाल करने के अवैतनिक कार्य" के मुद्दे पर ध्यान नहीं दिया जाता, और उसका हल नहीं ढूँढा जाता।

4. दिन के दौरान देखभाल

चौथा मुद्दा परिवार के पार जाकर सभी माताओं को बच्चों की पर्याप्त देखभाल कर पाने के लिए जरूरी सेवाएँ मुहैया कराने के संस्थागत क्षेत्र में दाखिल हो जाता है। दो साल से कम उम्र के बच्चे को न सिर्फ लगातार स्तनपान तथा पर्याप्त मात्रा और अच्छी गुणवत्ता वाले भोजन की जरूरत होती है, बल्कि उसे दिन में नियमित अन्तरालों पर आहार देना जरूरी होता है। दिन में चार या पाँच बार का आहार (यदि इससे ज्यादा नहीं तो) करवाने, जिसमें हर बार तकरीबन 20 मिनिट का समय लगता है, तथा उस आहार को बनाने की तैयारी, उसके संग्रहण, और अगर जरूरी हो तो फिर से गर्म करने के समय को जोड़ लिया जाए तो इस काम में प्रतिदिन 2–3 घण्टे लगेंगे। एक गरीब कामकाजी महिला अपने व्यस्त दिन में से यह सब करने के लिए समय कहाँ से निकालेगी? कई गरीब कामकाजी महिलाएँ बहुत घण्टों के लिए अपने घर से बाहर रहती हैं, और अकसर छोटे बच्चों को उनके बड़े भाई–बहनों की देखरेख में छोड़ जाती हैं। माँ का यह अभाव न सिर्फ बच्चों के कुपोषण, बीमारी और मृत्यु का एक प्रमुख कारण है, बल्कि इसकी वजह से देखरेख करने वाला वह बड़ा बच्चा भी स्कूली शिक्षा से वंचित रह जाता है। और आहार, बच्चों की देखभाल के कई तत्वों में से एक तत्व मात्र है।

लेकिन बच्चों की देखभाल की हमारी सेवाएँ इस समस्या पर ध्यान देने में नाकाम रही हैं, और वे लगातार इसी बहस में लगे रहे हैं कि बच्चों के लिए भोजन की व्यवस्था कैसे की जाए, बजाय इसके कि बच्चों को खिलाया कैसे जाए और उनकी देखभाल कैसे की जाए "खाना घर ले जाना" बनाम "बच्चे को खिलाना" की बहस सालों से होती आ रही है। पहले तरीके में नुकसान यह हो सकता है कि वह खाना सारे घर वालों में बँट जाए, जबकि दूसरे तरीके में गड़बड़ी यह है कि बच्चा सारे दिन के आहार की मात्रा इतने से समय में ग्रहण नहीं कर सकता। इस गतिरोध के पीछे अन्तर्निहित कारण यह है कि, आई.सी.डी.एस. "सेवा–आधारित" है, न कि "देखभाल–आधारित", और इसमें छोटे बच्चों के लिए दिन के दौरान देखभाल की सम्भावना पर विचार नहीं किया गया है जिससे कि जब उनकी माताएँ काम पर गई हुई होंगी उस अवधि में उन्हें आहार भी मिल सकेगा और उनकी देखरेख भी हो सकेगी। जहाँ 11.5 करोड़ महिलाएँ कामगार शक्ति का हिस्सा हों, (जिनमें से 90 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र में हैं), और इनमें से 3.5 करोड़ अनुमानित महिलाएँ ऐसी होती हैं जिनके छह साल से कम उम्र के बच्चे रहते हैं, तो वहाँ समाधान के रूप में दिन की देखभाल एक स्वाभाविक विकल्प प्रतीत होता है। इसके अलावा, दिन की देखभाल से इन छोटे बच्चों का ध्यान रखने वाले बड़े भाई–बहनों, खास तौर पर बहनों, को स्कूल जाने का अवसर मिलेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एक अध्ययन द्वारा यह आकलन किया गया कि करीब 38 प्रतिशत लड़कों तथा 60 प्रतिशत लड़कियों को "अदृश्य बच्चे" कहा जा सकता है, यानी वे न तो स्कूल जाते हैं और न ही काम करते हैं। इस श्रेणी में लड़कियों की संख्या लड़कों से तकरीबन दोगुनी है। एक सरल अनुमान यह होगा कि इनमें से कई बच्चे, खासकर लड़कियाँ, अपने छोटे भाई–बहनों की देखरेख में लगी रहती होंगी जिसकी वजह से उनकी शिक्षा बाधित होती है। अतः दिन की देखभाल ऐसे बच्चों के लिए भी सार्थक साबित होगी। पर ऐसी व्यवस्था न होने पर उसकी कीमत छोटे बच्चों, उनकी बड़ी बहनों और

माताओं को चुकाना पड़ती है – यहाँ भी हम लैंगिक भेदभाव को साफ तौर पर काम करता हुआ देख सकते हैं।

5. अपने काम की कद्र और उसके प्रतिफल का अधिकार

अन्त में, एक उभरती हुई समस्या है बच्चों की परवरिश से जुड़ी सेवाओं, जो अधिकांशतः महिलाओं के हवाले ही होती हैं, में लैंगिक भेदभाव, जबकि स्वास्थ्य सेवा और शिक्षा से जुड़े पेशेवर लोगों में लैंगिक भेदभाव न के बराबर पाया जाता है। इस देश में तीस लाख से भी ज्यादा महिलाएँ/लड़कियाँ बच्चों की देखभाल के कार्य में लगी हुई हैं (और इतनी ही संख्या में वे सहायक के रूप में काम कर रही हैं) और समाज के प्रति उनके इतने बड़े योगदान को देखते हुए उनकी स्थिति किन्हीं भी मानदण्डों के हिसाब से देखें तो शोचनीय है। अभी भी उन्हें "कामगार" के बजाय सिर्फ "स्वयंसेवी" समझा जाता है और "मानदेय" के नाम पर उन्हें दिन में कई घण्टों तक बच्चों के लिए मशक्कत करने (झाड़ू–बुहारी और साफ–सफाई से लेकर खाना तैयार करना, बच्चों को खिलाना, उनकी उपस्थिति दर्ज करना, उनकी ऊँचाई, वजन व अन्य माप लेना, और बच्चों को सिखाना और उनकी देखरेख करना आदि कार्य) के लिए उन्हें "वेतन" देने के बजाय मामूली राशि खैरात की तरह दे दी जाती है। उनके कौशलों की न तो कोई कद्र है और न ही इसके लिए उन्हें कोई उचित पारिश्रमिक ही मिलता है, न ही उनके लिए कोई प्रशिक्षण जरूरी माना जाता है, क्योंकि महिलाओं को तो "स्वाभाविक" रूप से बच्चों की देखभाल करना आना ही चाहिए(!); इस सबके साथ उन पर बच्चों से जुड़े कई तरह के कामों का बोझ भी होता है जिससे उनके रोजाना काम की सीमा बढ़ जाती है। वे एक मूक शोषित समूह हैं, जिन्हें किसी कुशल कामगार बनने के लिए उचित प्रशिक्षण, वेतन या काम की दशाओं से वंचित रखा जाता है। पर यदि वे ऐसी ही परिस्थितियों में काम करती रहती हैं तो इसके पीछे कारण है विकल्पों की कमी। राष्ट्र की प्राथमिकताओं में बच्चों का स्थान इतना नीचे है, कि वे जो इन बच्चों की खातिर मेहनत–मशक्कत करती हैं, उन्हें भी नहीं बख्शा जाता। क्या अब, अपमानजनक रूप से उन्हें उनकी सेवाओं की मान्यता के रूप में यदा–कदा सम्मानित करके नहीं, बल्कि बेहतर वेतन और कार्य की दशाओं के माध्यम से उनके कार्य की कद्र करके और अधिक सार्थक क्षमता निर्माण और तरक्की के अवसर देने जैसे अर्थपूर्ण तरीकों से उनकी गरिमा उन्हें वापस देने का समय नहीं आ गया है? यही काम अगर पुरुष कर रहे होते तो क्या काम की परिस्थितियाँ ऐसी ही होतीं? यहाँ फिर लिंग का शैतान सामने आ जाता है!

चित्र 1: अदृश्य बच्चे

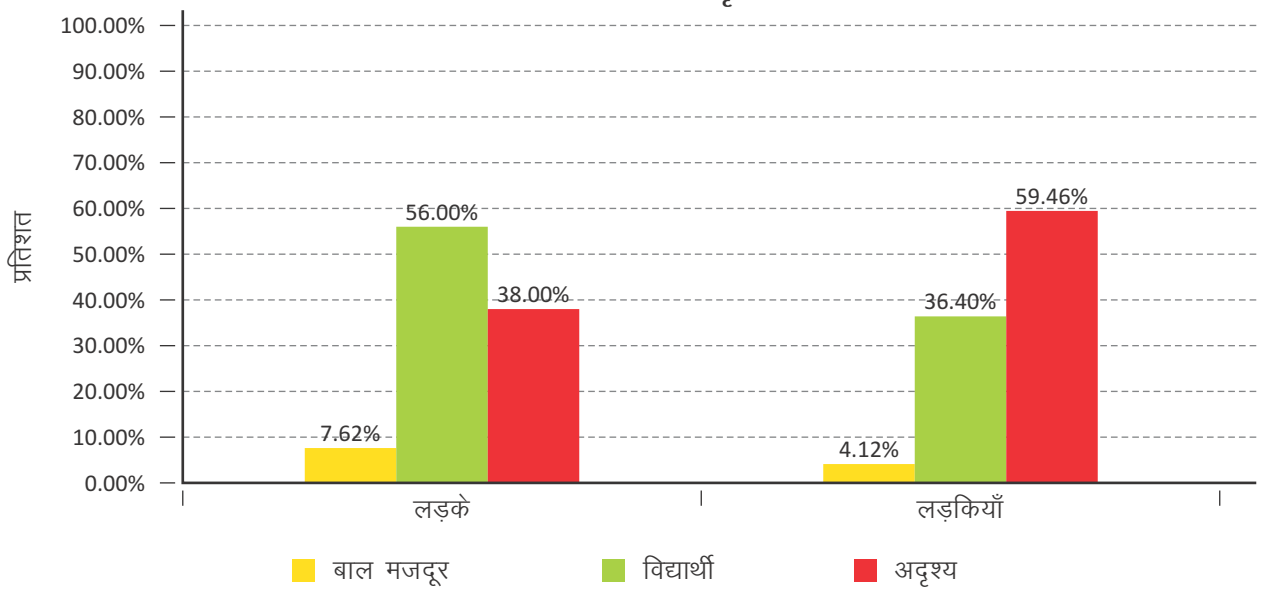

मैं डॉ. जिगिशा शास्त्री और डॉ. रमा नारायणन की बेहद आभारी हूँ कि उन्होंने इस लेख में उद्धृत आँकड़ों के संग्रहण में मेरी मदद की। इन आँकड़ों के उपयोग के लिए पूरी तरह से मैं जिम्मेदार हूँ।

References:

1. Barker, DJP, Eriksson, JG, Forsan, T and Osmond, C (2002) Fetal origins of adult disease : study of effects and biological basis International Journal of Epidemiology Vol 31, Issue 6, pp 1235 – 1239.
2. Bhat, Vishnu and Adhisivam, B (2013) Trends and Outcome of Low Birth Weight Infants in India The Indian Journal of Paediatrics, Vol 80, Issue 1.
3. Central Statistical Organisation Time Use Survey 1998-99
4. Chaudhuri, S Otiv, M Chitale, H Pandit, A and Hoge, M (2004) Pune Low birth weight study - cognitive abilities and educational performance at 12 years Indian Paediatrics, February 14 (2),pp121 - 8.
5. International Labour Organisation (1996) Invisible Children
6. National Institute for Population Sciences, Mumbai, 2006, National Family Health Survey III 2005 2006 (Low Birth Weight)
7. National Institute for Population Sciences, Mumbai, 2006, National Family Health Survey III 2005 2006 (Exclusive Breastfeeding)
8. Registrar General Census of India – IMR and CMR : **www.censusindia.gov.in/vital_statistics/srs/Chap_4_-_2010.pdf**
9. Registrar General Census of India Sex Ratio **www.censusindia.gov.in/Census_And_You/gender_composition.aspx**
10. UNICEF (2006). Progress for Children- a Report Card on Nutrition

मीना स्वामीनाथन 1960 के दशक से एक शिक्षक, शिक्षक–प्रशिक्षक, प्रयोगकर्ता, नीति–निर्धारक और लेखक के रूप में प्रारम्भिक बाल शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत रही हैं। आई.सी.डी.एस. को शुरू करने वाली मीना ने कई वर्षों तक मोबाइल क्रेशेज, आई.सी.डी.एस. और अन्य कई समूहों के साथ काम किया है। डे–केयर के क्षेत्र में कई दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों में, जिनमें वियतनाम, कम्बोडिया और फिलीपीन्स प्रमुख हैं, उनका गहरा अनुभव रहा है। वे इण्डियन एसोसिएशन फॉर प्री–स्कूल एजुकेशन की सम्पादिका, सचिव और अध्यक्ष रही हैं। उन्होंने आई.ए.पी.ई. द्वारा आयोजित वार्षिक महासभाओं में प्रमुख भूमिका निभाई है। देशभर में कार्यक्रमों की कई समीक्षाओं में शिरकत की है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा में खेल की भूमिका पर उनका अध्ययन देश में अपनी तरह का पहला अध्ययन था जिससे दीर्घकालिक (लौंजीट्यूडिनल) अध्ययनों की राह प्रशस्त हुई है, जिसके द्वारा ही खेल और गुणवत्ता के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। एक सफल लेखिका के रूप में प्रारम्भिक बचपन पर तीन बड़ी शिक्षक–मार्गदर्शक पुस्तिकाओं के अलावा उन्होंने कई किताबें और किताबों में सम्मिलित अध्याय, बड़ी संख्या में शोधपत्र और लोकप्रिय लेख लिखे हैं। उनसे mimams@dataone.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : भरत त्रिपाठी